

भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख घटकों का सहसम्बन्ध (वैदिक एवं श्रमण)

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। उसकी संरचना में आर्य और द्रविड़ तथा उनसे विकसित वैदिक और श्रमण धाराओं का महत्त्वपूर्ण अवदान है। जहाँ वैदिक धारा मूलतः प्रवृत्ति प्रधान रही है, वहीं श्रमण धारा निवृत्ति प्रधान रही है। चाहे प्रारम्भ में वैदिक धारा और श्रमण धारा स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में आयी हो, किन्तु कालान्तर में इन दोनों धाराओं ने परस्पर एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है। वर्तमान युग में जहाँ वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व हिन्दू धर्म-दर्शन करता है, वहीं श्रमणधारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध धर्म करते हैं। किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्तमान हिन्दू धर्म अपने शुद्ध स्वरूप में मात्र वैदिक धारा का प्रतिनिधि है। वर्तमान हिन्दू धर्म में श्रमणधारा के अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं। आज यह कहना कठिन है कि श्रमण धारा के प्रतिनिधि जैन और बौद्ध धर्म वैदिक धारा और उससे विकसित हिन्दू धर्म से पूर्णतः अप्रभावित रहे हैं। यदि हम भारतीय संस्कृति के सम्यक् इतिहास को समझना चाहते हैं तो हमें इस तथ्य को दृष्टिगत रखना होगा कि कालक्रम में उसकी विभिन्न धाराएँ एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करती रही हैं। कोई भी संस्कृति और सभ्यता शून्य में विकसित नहीं होती है। देशकालगत परिस्थितियों के प्रभाव के साथ-साथ वह सहवर्ती अन्य संस्कृतियों से भी प्रभावित होती है। यह सत्य है कि प्राचीन वैदिक धर्म यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड प्रधान रहा है और उसके प्रतिनिधि वर्तमान हिन्दू धर्म में आज भी इन तत्त्वों की प्रधानता देखी जाती है किन्तु वर्तमान हिन्दू धर्म में संन्यास और मोक्ष की अवधारणा का भी अभाव नहीं है। कालक्रम में वैदिक धर्म ने अध्यात्म, संन्यास, वैराग्य एवं तप-त्याग के तत्त्वों को श्रमण परम्परा से लेकर आत्मसात किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में ये तत्त्व उसमें पूर्णतः अनुपस्थित थे। प्राचीन स्तर की वैदिक ऋचाएँ इस सम्बन्ध में पूर्णतः मौन हैं, किन्तु आरण्यकों और उपनिषदों के काल में ही श्रमण परम्परा के, इन तत्त्वों को वैदिक परम्परा में मान्यता प्राप्त

हो चुकी थी। ईशावास्योपनिषद्, जो अथर्ववेद का अन्तिम परिशिष्ट भी है, में सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास किया गया है। औपनिषदिक चिन्तन निश्चित रूप से तप-त्याग मूलक अध्यात्म और वैराग्य को अपने में स्थान देता है। उपनिषद् तप-त्याग मूलक आध्यात्मिक संस्कृति पर बल देते हुए प्रतीत होते हैं। मात्र यही नहीं वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति प्रश्नचिह्न उपस्थित करने वाले भी वे ही प्रथम ग्रन्थ हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वय का जो प्रयत्न आरण्यकों एवं उपनिषदों ने किया था, वही गीता और महाभारत में पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा है। उपनिषद्, गीता और महाभारत वैदिक तथा श्रमणधारा के सांस्कृतिक समन्वय-स्थल हैं। उनमें प्राचीन वैदिक धर्म एक नया आध्यात्मिक स्वरूप लेता हुआ प्रतीत होता है, जिसे आज हम हिन्दू धर्म के रूप में जानते हैं।

साथ ही यह भी सत्य है कि निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा भी वैदिक धारा से पूर्णतः असम्पृक्त नहीं रही है। श्रमणधारा ने भी चाहे-अनचाहे रूप में वैदिक धारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यह सत्य है कि प्रारम्भ में श्रमण धारा के अध्यात्म ने वैदिक धारा को प्रभावित किया किन्तु कालान्तर में उसे भी वैदिक धारा के अनेक तत्त्वों को आत्मसात करना पड़ा। श्रमणधारा में जो कर्मकाण्ड और पूजा पद्धति का विकास हुआ है वह वैदिक धारा से विकसित हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही है। अनेक हिन्दू देवी-देवता और उनकी पूजा-उपासना की पद्धति श्रमण परम्परा में आत्मसात कर ली गई। किस परम्परा ने किससे, कितना, कब और किन परिस्थितियों में ग्रहण किया है इसकी चर्चा आगे करेंगे। किन्तु यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि इन दोनों धाराओं का स्वतन्त्र विकास किन मनोवैज्ञानिक पारिस्थितिक कारणों से हुआ और वे क्यों और कैसे एक-दूसरे के तत्त्वों को ग्रहण करने के लिये विवश हुईं अथवा इन दोनों धाराओं में पारस्परिक समन्वय की आवश्यकता क्यों हुई?

वैदिक और श्रमण धारा के उद्भव के मूल में किसी न किसी रूप में मानव अस्तित्व का वैविध्यतापूर्ण होना है। मानव अस्तित्व द्विआयामी और विरोधाभासपूर्ण है। वह स्वभावतः परस्पर दो विरोधी केन्द्रों के मध्य सन्तुलन बनाने का प्रयत्न करता रहता है। मनुष्य न केवल शरीर है और न केवल चेतना। शरीर के स्तर पर वह जैविक वासनाओं और इच्छाओं से प्रभावित है तो चेतना के स्तर पर वह विवेक से अनुशासित भी है। वासना और विवेक का यह अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य की नियति है और इन दोनों के मध्य सांग सन्तुलन स्थापित करना उसकी अनिवार्यता

है। शारीरिक स्तर पर वह जैविक वासनाओं से चालित है और इस स्तर पर उस पर जैविक यांत्रिक नियमों का आधिपत्य है। यही उसकी परतन्त्रता भी है। किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है। यहां उसमें संकल्प स्वातंत्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आध्यात्मिक तोष वह इन दोनों में से किसी भी एक की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं है। एक ओर उसका वासनात्मक अहं उसके सम्मुख अपनी मांगें प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर उसे विवेक चालित अपनी अन्तरात्मा की बात भी सुननी होती है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। मनुष्य के जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपने वर्तमान अस्तित्व में इन दोनों छोरों में एक सांग-संतुलन बना सके। मानवीय संस्कृति में श्रमण और वैदिक धाराओं के उद्भव के मूल में वस्तुतः मानव अस्तित्व का यह द्विआयामी या विरोधाभासपूर्ण स्वरूप ही है। मनुष्य को दैहिक स्तर पर वासनात्मक तथा चैतसिक स्तर पर आध्यात्मिक जीवन जीना होता है। वैदिक एवं प्रवर्तक धर्मों के मूल में मनुष्य का वासनात्मक जैविक पक्ष ही प्रधान रहा है। जबकि श्रमण या निवर्तक धर्मों के मूल में विवेक बुद्धि प्रमुख रही है। आगे हम यह विचार करेंगे कि इन प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों की विकास यात्रा का मनोवैज्ञानिक क्रम क्या है? और उनके सांस्कृतिक प्रदेय किस रूप में हैं?

वैदिक एवं श्रमणधारा के उद्भव का मनोवैज्ञानिक आधार

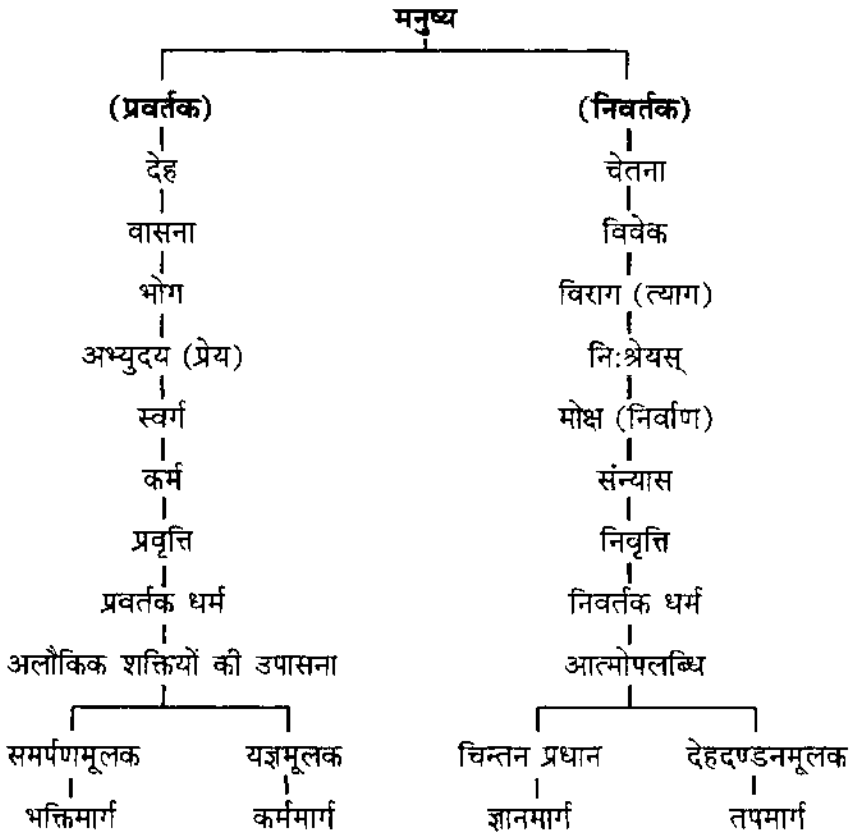
मानव-जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम' या 'विराग' की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वस्तुतः वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवन-दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होता है तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण-परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या-दृष्टि और दूसरी को सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय के मार्ग कहे गये हैं। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उनमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये भोग और भोग के साधनों की उपलब्धि के लिये

कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन-दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है। इसी से आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि या त्याग-मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग रहा, अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख-सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। पुनः आनुभविक जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसकी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं, तो उसने यह माना कि उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं। तब वह इन्हें प्रसन्न करने के लिये एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से भी सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ - १. श्रद्धाप्रधान भक्ति-मार्ग और २. यज्ञ-याग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था। अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया जिससे वैराग्यमूलक तप मार्ग का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर उस ऐकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वारा खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान-मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया - १. ज्ञान-मार्ग और २. तप-मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है -



निवर्तक (श्रमण) एवं प्रवर्तक (वैदिक) धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का यह विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है -

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. उपासनामूलक आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
२. विधायक जीवन-दृष्टि	२. निषेधक जीवन-दृष्टि
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी

४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैविक शक्तियों की कृपा पर विश्वास	४. व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थन फिर आत्मकल्याण हेतु वैयक्तिक पुरुषार्थ पर बला।
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्म सिद्धान्त का समर्थन।
७. साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बला।
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	८. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति।
९. वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	९. जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
१०. गृहस्थ-जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास जीवन की प्रधानता।
११. सामाजिक जीवन शैली	११. एकाकी जीवन शैली।
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन।
१३. शक्तिशाली की पूजा	१३. सदाचारी की पूजा
१४. विधि विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	१४. ध्यान और तप की प्रधानता।
१५. ब्राह्मण-संस्था (पुरोहित वर्ग) का विकास	१५. श्रमण-संस्था का विकास।
१६. समाधिमूलक	१६. समाधिमूलक

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ-हम सौ वर्ष जीये, हमारी सन्तान बलिष्ठ हों, हमारी गाये अधिक दूध देवे, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हों आदि-आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उसने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बंधन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य

माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन मूल्य है।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देता है अतः स्वाभाविक रूप से वह समाजगामी बना, क्योंकि दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति, जिसका एक अंग काम भी है, की पूर्ण संतुष्टि तो समाज-जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज-विमुख और वैयक्तिक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद उनकी पूर्ति या आपूर्ति किन्हीं अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह दैववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रक तत्त्वों के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थक होते हुए भी कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगा कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों में आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म-सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्मों में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ, वहीं निवर्तक धर्मों ने चित्त शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं दैवीय शक्तियों के निमित्त कर्मकाण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

श्रमण और वैदिक धाराओं की प्राचीनता का प्रश्न

यहां स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रमण धारा और वैदिक धारा में कौन प्राचीन है?

इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टियों से दिया जा सकता है - (१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और (२) ऐतिहासिक दृष्टि से।

जहां तक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रश्न है हमें यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय सभ्यता और संस्कृति का एक कालक्रम में विकास हुआ है। मनुष्य प्रारम्भ में एक विवेकशील विकसित प्राणी के रूप में ही प्रकृति पर आश्रित होकर अपना जीवन जीता था। उसमें सभ्यता, संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना का विकास एक परवर्ती घटना है। अपने प्राकृत जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका क्रमिक विकास हुआ है। जैन परम्परा की दृष्टि से भी विचार करें तो यौगलिक परम्परा से कुलकर परम्परा और उससे राज्य व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। विशुद्ध प्राकृतिक जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसने एक यात्रा की है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह लगता है कि प्रारम्भ में प्रवर्तक धारा या वैदिक धारा ही अस्तित्व में आयी। जैसे-जैसे प्राकृतिक साधनों में कमी आई और मनुष्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई, जैविक आवश्यकताओं के साधनों पर आधिपत्य की भावना जागृत हुई। उन जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की अधिकतम उपलब्धि कैसे हो, उसी हेतु प्रकृति पूजा और तज्जन्य प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोपण करने वाले वैदिक धर्म का विकास हुआ। किन्तु जब व्यक्ति इन भौतिक उपलब्धियों से आत्मतोष नहीं पा सका और उनके निमित्त से उसका वैयक्तिक और सामाजिक जीवन संघर्षों और तनावों से ग्रस्त हो गया होगा तो वह आध्यात्मिक शान्ति की खोज में निकला होगा और उसी से आध्यात्मिक श्रमण धारा का विकास हुआ। प्रारम्भिक अवस्था में उसके सामने मुख्य समस्याएं उसकी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही रही होगी। कहा भी है - “भूखे भजन न होंहि गोपाला”। अतः स्वाभाविक है कि पहले प्रवर्तक वैदिक धर्म का विकास हुआ होगा किन्तु जैसा ईसामसीह का कथन है कि - “Man can not live by bread alone” अर्थात् मनुष्य केवल रोटी पर जिन्दा नहीं रह सकता, परिणामतः उसकी आध्यात्मिक भूख और जिज्ञासावृत्ति जाग्रत हुई और उसने आध्यात्मिक एवं निवृत्तिमूलक धर्मों को जन्म दिया। क्योंकि मूल्य व्यवस्था के क्रम में भी जैविक और सामाजिक मूल्यों के बाद ही आध्यात्मिक मूल्यों की ओर रुझान होती है। जैविक और सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक मूल्यों को जीना, चाहे किसी व्यक्ति विशेष के लिए सम्भव हो, किन्तु वह सार्वभौमिक और सार्वजनिक नहीं हो सकता।

जहां तक ऐतिहासिक साक्ष्यों का प्रश्न है भारतीय संस्कृति को समझने के लिये हमारे सामने दो ही प्रमाण हैं - १. साहित्यिक और २. पुरातात्विक।

साहित्यिक प्रमाणों की अपेक्षा से हमें जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है, वह ऋग्वेद है। ऋग्वेद न केवल भारतीय साहित्य अपितु विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। दूसरी ओर पुरातात्विक दृष्टि से जो साक्ष्य हमें उपलब्ध है उनमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा ही प्राचीनतम हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृतियों में कौन प्राचीन है इसका ऐतिहासिक दृष्टि से निर्णय इन्हीं दो साक्ष्यों पर निर्भर करेगा।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, साहित्यिक साक्ष्यों में ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद में श्रमणधारा के प्रमुख शब्दों में अरहन्त, वातरशनामुनि, श्रमण, ब्राह्म्य आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद आर्हत और बार्हत ऐसी दो परम्पराओं का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है। ऋग्वेद में इन दोनों परम्पराओं के उल्लेख इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि ऋग्वेद के रचनाकाल में दोनों ही परम्पराएं अपना अस्तित्व रखती थीं। ऋग्वेद में न केवल अरहन्त एवं अर्हत शब्द मिलते हैं, अपितु आर्हत परम्परा का और उसके आद्य संस्थापक ऋषभ के भी उल्लेख हैं। ऋग्वेद में ११२ ऋचाओं में 'ऋषभ' शब्द का उल्लेख है। यद्यपि सर्व स्थलों पर 'ऋषभ' शब्द तीर्थंकर ऋषभ का वाचक है, यह कहना तो कठिन है किन्तु उन ऋचाओं के आधार पर यह मानना भी सम्भव नहीं है कि वे सभी ऋचाएं सामान्यतः वृषभ (बैल) की वाचक हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि - औपनिषदिक सूक्तों और वैदिक ऋचाओं में अनेक ऐसी हैं जो प्रतीकात्मक हैं। क्योंकि उन्हें प्रतीकात्मक माने बिना उनका कोई भी वास्तविक अर्थ नहीं निकल सकता। उदाहरण के रूप में श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह कथन लें, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजामानासरूपां"- सामान्य शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि लाल, काले और सफेद रंग की एक बकरी अपने ही समान सन्तानों को जन्म देती है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि सत्व, रजस् और तमसगुण से युक्त प्रकृति अपने ही समान सृष्टि को जन्म देती है। वस्तुतः यही स्थिति ऋग्वेद की ऋषभवाची ऋचाओं की है। अतः उनका प्रतीकात्मक अर्थ किस प्रकार जैन या श्रमण परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है, इसकी विस्तृत चर्चा हमने ऋग्वेद में ऋषभ वाची ऋचाएं नामक एक लेख में की है। विस्तार भय से यहां उस चर्चा में उतरना तो सम्भव नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि ऋग्वेद के काल में इस देश में आर्हत और बार्हत दोनों ही परम्पराएं जीवित थीं अर्थात् वैदिक और श्रमण धाराओं का सह-अस्तित्व था।

जहां तक पुरातात्विक साक्ष्यों का प्रश्न है मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जो श्रमण या आर्हत परम्परा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। हड़प्पा के उत्खनन में हमें ध्यानस्थ योगियों की अनेक सीलें

उपलब्ध होती हैं, जिनमें खड्गसासन या पद्मासन की मुद्रा में योगी ध्यान में बैठे दिखाये गये हैं। यद्यपि इन पुरातात्विक साक्ष्यों में अनेक अभिलेख भी हैं, जो अभी तक नहीं पढ़े गये हैं। किन्तु इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में एक सुसंस्कृत सभ्यता अस्तित्व में थी और उसका बहुत कुछ सम्बन्ध प्राचीन आर्हत धारा की योग, शैव आदि श्रमण धारा की परम्पराओं से रहा है। शैव परम्परा अवैदिक परम्परा है, इसे अनेक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। वस्तुतः सांख्य योग, शैव, आजीवक, बौद्ध और जैन ये सभी परम्पराएं मूल में प्राचीन आर्हत श्रमण धाराओं के ही विविध रूप हैं। इन सब साक्ष्यों को चाहे हम स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थ या जैन उद्धोषित न भी कर सकें तो भी ये सभी साक्ष्य आर्हत श्रमणधारा के ही सूचक हैं। औपनिषदिक धारा के साथ-साथ सांख्य-योग आदि परम्पराएं भी मूलतः श्रमण ही हैं और इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक परम्परा।

भारतीय श्रमण परम्परा के विभिन्न घटक

भारतीय श्रमण परम्परा या आर्हत परम्परा एक अतिव्यापक परम्परा है। औपनिषदिक, जैन और बौद्ध साहित्य के प्राचीन अंशों में इसके अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। इस श्रमण परम्परा का प्राचीनतम संकेत ऋग्वेद (१०/१३६/२) में वातरशना मुनि के उल्लेख के रूप में भी उपलब्ध है। जिसका सामान्य अर्थ नग्न मुनि या वायु का भक्षण कर जीवित रहने वाले मुनि, ऐसा होता है। ऋग्वेद में जीर्ण और मलयुक्त अर्थात् मैले वस्त्र धारण करने वाले पिशंगवसना मुनियों का भी उल्लेख मिलता है। यह सब उल्लेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि ऋग्वैदिक काल में श्रमण परम्परा का अस्तित्व था। पुनः ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में जो ब्राह्मणों का उल्लेख उपलब्ध होता है वह भी श्रमणधारा की प्राचीनता का सूचक है। इसका एक प्रमाण यह है कि आरण्यकों में श्रमणों और वातरशना मुनियों को एक ही बताया गया है। इसी प्रकार उपनिषदों (बृहदा० ४/३/२२) में तापसों और श्रमणों को एक बताया गया है। जैन परम्परा में भी श्रमणों के पांच प्रकारों की चर्चा करते हुए उनमें निर्ग्रन्थ, आजीवक, शाक्यपुत्रीय श्रमण, गैरिक और तापस ऐसे पांच विभाग मिलते हैं। यदि हम औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धारा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें इस प्राचीन श्रमण धारा की व्यापकता का ज्ञान हो जाता है। इस सम्बन्ध में अति विशद् चर्चा तो यहाँ सम्भव नहीं है किन्तु यदि हम बृहदारण्यकोपनिषद् (६/५/३-४ पृ. ३५६ तथा ४/६/१-३) के ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की वंशावली, बौद्ध परम्परा की थेरगाथा, तथा जैन परम्परा के ग्रन्थ ऋषिभाषित के ऋषियों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें भारतीय

श्रमण धारा की व्यापकता का पता लग सकता है। क्योंकि इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें अनेक नाम समान रूप से पाये जाते हैं जो इस तथ्य के सूचक हैं कि भारतीय श्रमणधारा का मूल स्रोत एक ही है।

औपनिषदिक धारा को श्रमणधारा के साथ संयोजित करने के पीछे मुख्य रूप से निम्न आधार हैं -

औपनिषदिक धारा मूलतः कर्मकाण्ड की विरोधी है। उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा की गई है अपितु मुण्डकोपनिषद् (१/२/७) में यह कहकर कि यज्ञ रूपी ये नौकाएं अदृढ़ हैं, सच्छिद्र हैं, ये संसार सागर में डुबाने वाली हैं, न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना की है अपितु यह कहकर कि जो इसे श्रेय मानकर इसका अभिनन्दन करता है, वह मूढ़ पुरुष जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है, कर्मकाण्ड की हेयता को भी उजागर किया गया है। इसके साथ-साथ बृहदारण्यकोपनिषद् (६/२/८) में जनक के द्वारा याज्ञवल्क्य को स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह अध्यात्म विद्या पहले किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही है, तुम्हारी नम्रतायुक्त प्रार्थना को देखकर ही मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। इस परिचर्चा में न केवल भौतिक उपलब्धियों को हीन बताया गया है, अपितु यज्ञ रूपी कर्मकाण्ड को प्राकृतिक शक्तियों के साथ समन्वय करते हुए उनका किसी रूप में आध्यात्मिकरण भी किया गया है। इस उपनिषद् में (६/२/१६ पृ. ३४५) स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वे लोक जो यज्ञ, दान, तपस्या के द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं वे धूम मार्ग को प्राप्त होते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ धूम मार्ग को जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने वाला कहा गया है। यद्यपि उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कर्मकाण्ड सम्बन्धी उल्लेख मिल जाते हैं किन्तु औपनिषदिक ऋषि उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते थे। दूसरा महत्त्वपूर्ण संकेत उपनिषदों में यह मिलता है कि उनमें यज्ञीय कर्मकाण्ड का आध्यात्मिकरण किया गया है। आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता औपनिषदिक चिन्तन के आध्यात्मिक होने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है (ऐतरेयोपनिषद् १/१/१)। यज्ञ के आध्यात्मिकरण के कुछ उल्लेख यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :-

बृहदारण्यकोपनिषद् (६/२/१२) में कहा गया है कि पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिधाएं हैं, प्राण ही धुआ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अंगारे हैं, श्रोत्र ही चिंगारी है। इस अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि बृहदारण्यक को उपनिषद् की कोटि में गिना जाता है, किन्तु मूल में वह आरण्यक वर्ग का ही है। आरण्यक उस स्थिति के सूचक है जब वैदिक कर्मकाण्ड आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण करने

की ओर प्रथमतः प्रस्थित हुआ था। उपनिषदों के आध्यात्मिक पक्ष को समझने के लिए मुण्डकोपनिषद् के प्रथम खण्ड के दस और द्वितीय खण्ड के आठ श्लोक विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट रूप से औपनिषदिक धारा के श्रमणधारा होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली के प्रारम्भ में जो श्रेय और प्रेय मार्ग का विवेचन कर श्रेय मार्ग की प्रमुखता बताई गई है वह भी औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा के निकट होने का प्रमाण है।

मुण्डकोपनिषद् (३/१/५) का यह कथन कि “इस शरीर के भीतर जो आत्मतत्त्व उपस्थित है उसे सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा दोषों से क्षीण यतीगण देख लेते हैं” जैन दर्शन के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप रूप मोक्षमार्ग को ही प्रतिध्वनित करता है। इसी प्रकार “यह आत्मा वाणी, मेधा (बुद्धि) अथवा शास्त्र-श्रवण से प्राप्त नहीं होती। वस्तुतः जो इसे जानना चाहता है उसके सामने यह आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्घाटित कर देता है।” (मुण्डकोपनिषद् ३/२/३) का यह कथन हमें जैन आगम आचारांग में भी मिलता है। उपनिषदों में ऐसे अनेकों वचन उपलब्ध हैं जो श्रमण परम्परा की अवधारणा से तादात्म्य रखते हैं। यह सत्य है कि उपनिषदों पर वैदिक परम्परा का भी प्रभाव देखा जाता है, क्योंकि मूलतः औपनिषदिक धारा वैदिक धारा और श्रमण धारा के समन्वय का ही परिणाम है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् (४/५/६) में भी सांख्य दर्शन का - विशेष रूप से त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा आसक्त एवं अनासक्त जीवों का जो चित्रण है वह स्पष्ट रूप से सांख्य दर्शन और औपनिषदिक धारा की श्रमण परम्परा के साथ सहधर्मिता को ही सूचित करता है। इसी क्रम में बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/१२) का यह कथन कि, “पुरुष के द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसे किसी कामना या इच्छा से दुःखी नहीं होना पड़ता है” तथा इसी उपनिषद् (४/४/२२) में आगे यह कथन कि “यह आत्मा महान्, अजन्मा, विज्ञानमय, हृदयाकाशशायी है और इसे जानने के लिये ही मुनिजन पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का परित्याग कर भिक्षाचर्या से जीवन जीते हैं। इस आत्मा की महिमा नित्य है, वह कर्म के द्वारा न तो वृद्धि को प्राप्त होती है न ह्रास को। इस आत्मा को जानकर व्यक्ति कर्मों से लिप्त नहीं होता। इस आत्मा का ज्ञान रखने वाला शांतचित्त, तपस्वी उपरत, सहनशील और समाहित चित्त वाला आत्मा, आत्मा में ही आत्मा का दर्शन कर सभी को अपनी आत्मा के समान देखता है, उससे कोई पाप नहीं होता, वह पापशून्य, मलरहित, संशयहीन ब्राह्मण ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है (बृहदारण्यक ४/४/२३) औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा से नैकट्य को ही सूचित करता है। वस्तुतः

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद तथा याज्ञवल्क्य का अपनी पत्नियों- मैत्रेयी और कात्यायनी का संवाद औपनिषदिक ऋषियों के श्रमणधारा से प्रभावित होने की घटना को ही अभिव्यक्त करते हैं (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१ से ७ तक)। यहां हमने प्रसंगवश केवल प्राचीन माने जाने वाले कुछ उपनिषदों के ही संकेत प्रस्तुत किये हैं। परवर्ती उपनिषदों में तो श्रमणधारा से प्रभावित यह आध्यात्मिक चिंतन अधिक विस्तार और स्पष्टता से उपलब्ध होता है।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि वैदिक धारा ब्राह्मणों और आरण्यकों से गुजरते हुए औपनिषदिक काल तक श्रमणधारा से मिलती है। यह श्रमणधारा एक ओर वैदिकधारा से समन्वित होकर कालक्रम में सनातन हिन्दू धर्म के रूप में विकसित होती है तो दूसरी ओर वैदिक धारा से अपने को अप्रभावित रखते हुए मूल श्रमणधारा- जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा के रूप में विभक्त होकर विकसित होती है। फिर भी जैन, बौद्ध और आजीवक सम्प्रदायों के नामकरण एवं विकास के पूर्व भी यह श्रमणधारा सामान्य रूप से प्रवाहित होती रही है। यही कारण है कि इन धाराओं के अनेक पूर्व पुरुष न केवल जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा में समान रूप में स्वीकृत हुए, किन्तु औपनिषदिक चिन्तन और उससे विकसित परवर्ती हिन्दू धर्म की विविध शाखाओं में भी समान रूप से मान्य किए गये हैं। यदि हम उपनिषदों में दिये गये ऋषिवंश, जैन ग्रन्थ ऋषिभाषित में उल्लेखित ऋषिगणों तथा बौद्ध ग्रन्थ थेरगाथा में उल्लेखित थेरों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें ऐसा लगता है कि औपनिषदिक, बौद्ध, जैन और आजीवक धाराएं अपनी पूर्व अवस्था में संकुचितता के घेरे से पूर्णतया मुक्त थीं और एक समन्वित मूलस्रोत का ही संकेत करती हैं।

१. देवनारद, वज्जीपुत्र, असितदेवल, अंगिरस, भारद्वाज, पुष्पशालपुत्र, वल्कलचीरि, कुम्भापुत्र, केतलीपुत्र, महाकाश्यप, तैतलीपुत्र, मंखलीपुत्र (गोशालक), याज्ञवल्क्य, मेतज्यभयालीबाहुक (मेतार्यभयाली), मधुरायन, शौर्यायन, विदुर, वारिसेनकृष्ण, आर्यायन, उत्कट, गाथापतिपुत्र, गर्दभाल, रामपुत्र, हरिगिरी, अम्बडपरिव्राजक, मातंग, वारत्तक, आद्रक, वर्धमान, वायु, पार्श्व, पिंग, महाशालपुत्र अरुण, ऋषिगिरी, उद्दालक, नारायण (वारायण), श्रीगिरी, सारिपुत्र, संजय, द्वैपायन, इन्द्रनाग, सोम, यम, वर्ण, वरुण, वैश्रमण आदि।

(१) बृहदारण्यकोपनिषद् (बृहदा. ४/५) याज्ञवल्क्यीय परम्परा की सूची

- | | |
|-------------|-------------|
| १. ब्रह्म | ३१. औपजंघनि |
| २. परमेष्ठि | ३२. त्रैवनी |

- | | |
|---------------------------|------------------------------|
| ३. सनक | ३३. असुरायन-यास्क जातुकर्ण्य |
| ४. सनातन | ३४. पाराशर |
| ५. सन्नारु | ३५. पाराशर्यायण |
| ६. व्यष्टि | ३६. घृतकौशिक |
| ७. विप्रचित्त | ३७. कौशिकायनी |
| ८. एकर्षि | ३८. सायकायण |
| ९. प्राध्वन्सन | ३९. काशायण |
| १०. मृत्यु | ४०. सौकरायण |
| ११. अथर्वावादेव | ४१. माध्यन्दिन |
| १२. दध्यण्आथर्वण | ४२. जाबाल |
| १३. दधिचि | ४३. उद्दालका |
| १४. अश्विनी कुमार | ४४. गार्ग्यपुत्र |
| १५. विश्वरूपात्वाष्ट्र | ४५. पाराशर्यायण |
| १६. आभूतित्वाराष्ट्र | ४६. सैतव |
| १७. आङ्गिरस | ४७. गौतम |
| १८. पथःसौभर | ४८. गर्गवंशी |
| १९. बाभ्रवदत्सनपाद्वाभ्रव | ४९. गार्ग्य |
| २०. विदर्भी कौण्डिन्य | ५०. अग्निवैश्य |
| २१. गालव | ५१. गौतम |
| २२. कुमार हरित | ५२. कौशिक |
| २३. कैशोर्यात्काप्य | ५३. शांडिल्य |
| २४. शांडिल्य | ५४. कोण्डिन्य |
| २५. वात्स्य | ५५. कौशिक |
| २६. गौतम | ५६. गौपवन |
| २७. माण्डि | ५७. पौत्तिमाष्य |
| २८. आत्रेय | ५८. गौपवन |
| २९. भारद्वाज | ५९. पौत्तिमाष्य |
| ३०. आसुरि | |

(२) बृहदारण्यकोपनिषद् (बृहदा० ६/४)

- | | |
|--------------------------|----------------------|
| १. आदित्य | २६. माण्डुकीपुत्र |
| २. अंभिनी | २७. माण्डुकायनीपुत्र |
| ३. वाक् | २८. जायन्ती |
| ४. नैध्रुवीकश्यप | २९. आलम्बीपुत्र |
| ५. शिल्पकश्यप | ३०. आलम्बायनीपुत्र |
| ६. हरितकश्यप | ३१. सांकृतीपुत्र |
| ७. असिताद्वार्षगण | ३२. शौङ्गीपुत्र |
| ८. जीह्वावान्वाध्ययोग | ३३. आर्तभागीपुत्र |
| ९. वाजश्रवा | ३४. वार्कारुणीपुत्र |
| १०. कूश्री | ३५. पाराशरीयपुत्र |
| ११. उपवेशी | ३६. वात्सीपुत्र |
| १२. अरुण | ३७. पाराशरीयपुत्र |
| १३. उद्दालक | ३८. भारद्वाजीपुत्र |
| १४. याज्ञवल्क्य | ३९. गौतमी सूत |
| १५. आसुरी | ४०. आत्रेयी पुत्री |
| १६. प्राशनीपुत्र आसुरायन | ४१. कापीपुत्र |
| १७. प्राशनीपुत्र असुरि | ४२. काण्वीपुत्र |
| १८. सांजीवीपुत्र | ४३. वैयाघ्रपदीपुत्र |
| १९. प्राचीनयोगीपुत्र | ४४. आलम्बीपुत्र |
| २०. कार्शकैयीपुत्र | ४५. कौशिकीपुत्र |
| २१. वैदभृत्तिपुत्र | ४६. कात्यायनीपुत्र |
| २२. क्रौञ्चिकीपुत्र | ४७. पाराशरीपुत्र |
| २३. भालुकीपुत्र | ४८. भारद्वाजीयपुत्र |
| २४. राथीतरी पुत्र | ४९. गौतमी पुत्र |
| २५. शाण्डिलीपुत्र | ५०. कात्यायनीपुत्र |
| | ५१. पौतिमाषी पुत्र |

(३) थेरगाथान्तर्गत बौद्ध परम्परा की सूची

- | | |
|--------------|--------------------------|
| १. ब्रह्म | २. प्रजापति |
| ३. कावशैय | ४. यज्ञवचाराजस्तम्बायन |
| ५. कुश्रि | ६. वात्स्य |
| ७. शाण्डिल्य | ८. वामकशायन |
| ९. माहित्थि | १०. कौत्स |
| ११. माण्डण्य | १२. माण्डुकायनी |
| १३. सांजीवी | १४. आगे की परम्परा समान। |

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त सूचियों के अवलोकन से एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि इन तीनों ही सूचियों में कुछ नाम समान रूप से पाये जाते हैं। विशेष रूप से औपनिषदिक सूचियों के कुछ नाम ऋषिभाषित की सूची में और कुछ नाम थेरगाथा की सूची में पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं ऋषिभाषित की सूची के कुछ नाम थेरगाथा की सूची के साथ-साथ सुत्तनिपात आदि बौद्ध पिटक साहित्य के ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। सामान्यतया यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि एक नाम के कई व्यक्ति विभिन्न कालों में भी हो सकते हैं और एक काल में भी हो सकते हैं ? किन्तु जब हम इन सूचियों में प्रस्तुत कुछ व्यक्तियों का गम्भीरता से अध्ययन करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इन सूचियों में जो नाम समान रूप से मिलते हैं वे भिन्न व्यक्तियों के सूचक नहीं हैं, अपितु इससे भिन्न यही सिद्ध होता है कि वे एक ही व्यक्ति के नाम हैं। उदाहरण के रूप में - याज्ञवल्क्य का नाम शतपथब्राह्मण, सांख्यायन आरण्यक, बृहदारण्यकोपनिषद्, महाभारत के सभापर्व, वनपर्व एवं सांख्यपर्व में मिलता है तो दूसरी ओर वह हमें ऋषिभाषित की सूची में भी मिलता है। जब हम ऋषिभाषित प्रस्तुत याज्ञवल्क्य के उपदेश की बृहदारण्यकोपनिषद् में उनके उपदेश से तुलना करते हैं तो स्पष्ट रूप से लगता है कि वे दोनों ही स्थलों पर वितैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के त्याग की बात करते हैं। दोनों परम्पराओं में उनके उपदेश की इस समानता के आधार पर उन्हें दो भिन्न व्यक्ति नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जब हम थेरगाथा के गोशाल थेर, ऋषिभाषित के मंखलीपुत्र (गोशालक) तथा महाभारत के मंकी (मंखी) ऋषि के उपदेशों की तुलना करते हैं तो तीनों ही स्थानों पर उनकी प्रमुख मान्यता नियतिवाद के सम्पोषक तत्त्व मिल जाते हैं। अतः हम इन तीनों को अलग-अलग व्यक्ति नहीं मान सकते। इसी प्रकार जब हम ऋषिभाषित के वर्धमान और थेरगाथा के वर्धमान थेर की तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि थेरगाथा की अट्टकथा में वर्धमान थेर को वैशाली गणराज्य के लिच्छवी वंश का राजकुमार बताया गया है, अतः वे वर्धमान महावीर ही हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल थेरगथा अपितु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित नाटपुत्र (ज्ञातपुत्र) जैन परम्परा के वर्धमान महावीर ही हैं। सूत्रकृतांग की महावीर स्तुति में महावीर के लिये जो 'सव्ववारिवारित्तो' का निर्देश है वह त्रिपिटक के ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। अतः थेरगथा के वर्धमान थेर और जैन परम्परा के महावीर भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। इसी प्रकार पिंग ऋषि का जो उल्लेख ऋषिभाषित, सुत्तनिपात और महाभारत में पाया जाता है कि उसके आधार पर उन्हें अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता। जैन परम्परा के ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग, स्थानांग और अनुत्तरौपपातिक तथा बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक साहित्य के अनेक ग्रन्थों में रामपुत्र का उल्लेख मिलता है, उन्हें भी अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता। अतः तीनों परम्परा में जो कुछ नाम समान रूप से मिलते हैं उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना पक्षाग्रह का ही सूचक होगा।

इन समरूपताओं से यही सूचित होता है कि जिस प्रकार चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत में सन्तों की सामन्जस्यपूर्ण परम्परा रही है वैसे ही बुद्ध और महावीर के पूर्व और उनकी समकालिक ऋषि परम्परा रही है। कालान्तर में जब धर्म-सम्प्रदायों का गठन हुआ, तो इसी पूर्व परम्परा में से मन्तव्य आदि की अपेक्षा जो अधिक समीप लगे उनको अपनी धारा में स्थान दे दिया गया और शेष की अपेक्षा कर दी गई। यह भी हुआ कि कालान्तर में जब साम्प्रदायिक आग्रह दृढमूल होने लगे तो पूर्व में स्वीकृत ऋषियों को भी अपनी परम्परा से अभिन्न बताने हेतु उन्हें भिन्न व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया गया। यह स्थिति जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में घटित हुई। यही कारण रहा कि कालान्तर में ऋषिभाषित को मूलागम साहित्य से हटा कर प्रकीर्णक साहित्य में डाल दिया गया और आगे चलकर उसे वहाँ से भी हटा दिया गया। चाहे हम सहमत हों या न हों किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारत की इसी श्रमण धारा की ऋषि परम्परा से औपनिषदिक बौद्ध, जैन, आजीवक और सांख्य, योग आदि का विकास हुआ है। जैन धारा मूलतः श्रमणधारा का ही एक अंग है। सूत्रकृतांग में आचार और विचारगत मतभेदों के बावजूद भी विदेह, नमी, रामपुत्र, बाहुक, उदक, नारायण, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि को अपनी परम्परा से सम्मत बताते हुए तपोधन, तात्त्विक महापुरुष तथा सिद्धि को प्राप्त कहा गया है। यह इस तथ्य का सूचक है कि मूल में भारतीय श्रमणधारा एक रही है और औपनिषदिक, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन और आजीवक परम्पराएँ इसी श्रमणधारा से विकसित हुई हैं और किसी न किसी रूप में उसकी अंगीभूत भी हैं।

